☐ **श्री भंवरलाल सेठिया** एम० ए०

मोक्ष की पूर्व भूमिका 'वीतरागता' है। यही जैन तत्त्व-विद्या का प्राण है और इसे ही वैदिक तत्त्वज्ञान में 'स्थित प्रज्ञ' नाम से जाना गया है। दोनों विचारधाराओं के आलोक में 'स्थितप्रज्ञ' और 'वीतराग' के स्वरूप एवं साधना पक्ष पर तुलनात्मक विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है।

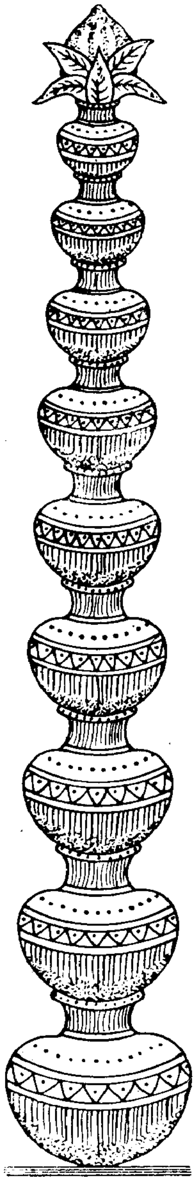

ब्राह्मण व श्रमण परम्परा के सन्दर्भ में—

स्थितप्रज्ञ और वीतराग : एक समीक्षात्मक विश्लेषण

☐

भारत के दार्शनिक साहित्य में 'प्रज्ञा' शब्द एक विशेष गरिमा लिए हुए है। वैदिक, जैन और बौद्ध—तीनों परम्पराओं में इसका विशेष रूप से विभिन्न स्थानों में प्रयोग हुआ है। गीता के दूसरे अध्याय में 'स्थितप्रज्ञ' के रूप में यह शब्द गम्भीर अर्थ-संपदा लिए हुए है। गीता को सब उपनिषदों का सार कहा गया[1] है। उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण भाग हैं, जिनमें जीवन के गहनतम विषयों का अत्यन्त सूक्ष्मता तथा गम्भीरता के साथ विश्लेषण है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन-धारा की अपनी यह विशेषता है कि विभिन्न गति-क्रमों में प्रवाहित होते हुए भी, अनेक ऐसे विश्वजनीन पहलू हैं, जिनमें हमें वहाँ सामरस्य (समरसता) के दर्शन होते हैं। गीता में 'स्थितप्रज्ञ' की जो विराट कल्पना है, वह निःसन्देह तत्त्व-चिन्तन के क्षेत्र में अपना अनुपम स्थान लिए हुए है। जैनदर्शन में 'वीतराग' का जो विवेचन है, लगभग उसी दिशा में स्थितप्रज्ञ का गति-प्रवाह है। प्रस्तुत लेख में स्थितप्रज्ञ और वीतराग का तात्त्विक तथा साधनात्मक दृष्टि से संक्षेप में विश्लेषण करने का प्रयास है।

जीवन की धारा : अधःगमन—ऊर्ध्वगमन

प्रत्येक आत्मा विराट् शक्ति का देदीप्यमान पुञ्ज है। ईश्वरत्व या परमात्मभाव बहिर्गत नहीं है, उसी में है। विजातीय द्रव्य—जैनदर्शन की भाषा में जिन्हें कर्म-पुद्‌गल कहा गया है, वेदान्त की भाषा में जो माया-आवरण के रूप में प्रतिपादित हैं—से उसका शुद्ध स्वरूप आवृत्त है। इस आवरण का मुख्य प्रेरक राग है। राग गुणात्मक दृष्टि से आत्मा की विराट् सत्ता को संकीर्ण बनाता है। वह संकीर्णता जब उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, तब जीवन का स्रोत अधोमुखी बन जाता है। फलतः आकांक्षा, एषणा, लिप्सा और वासना में मानव इस प्रकार उलझ जाता है कि उसे सही मार्ग सूझता नहीं। गति जो राह पकड़ती है, उसी में उसकी प्रगति होती है। पतनोन्मुखता का परिणाम उत्तरोत्तर अधिकाधिक निम्नातिनिम्न गर्त में गिरते जाना है।

अब हम इसके दूसरे पक्ष को लें, जब साधक आत्मा पर छाये रागात्मक केंचुल को उतार फेंकने के लिए कृत-संकल्प होता है। ज्यों-ज्यों यह प्रयत्न मानसिक और कार्मिक—दोनों दृष्टियों से गति पाने लगता है, त्यों-त्यों जीवन का स्रोत ऊर्ध्वगामी बनने लगता है। ऊर्ध्वगामी का आशय अपने स्वरूप को अधिगत करते जाने की दृष्टि से उन्नत होते जाना है। ज्यों-ज्यों यह ऊर्ध्वगामिता बल पकड़ने लगती है, साधक के मन में एक दिव्य ज्योति उजागर होने लगती है। अन्ततः बाह्य आवरण या माया से विच्छेद हो जाता है और प्राप्य प्राप्त हो जाता है।

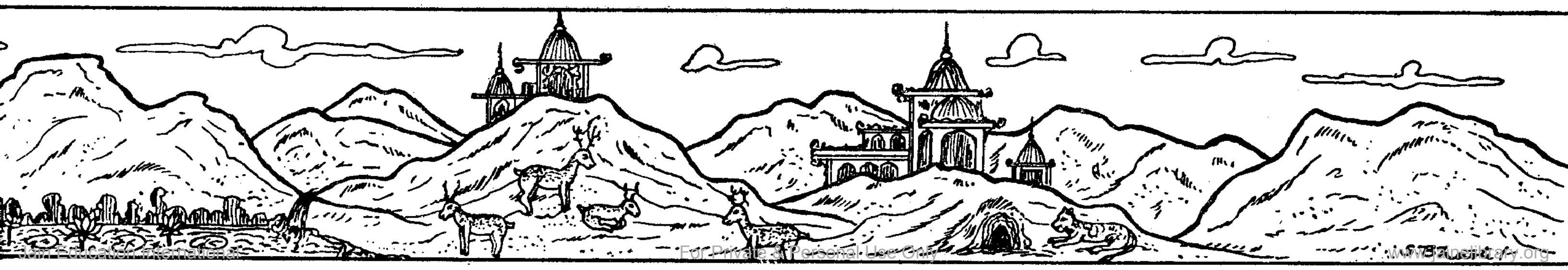

स्थितप्रज्ञ का सन्देश

जैसा कि सुविदित है, गीता महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है। इसे जो गीता कहा गया है, इसमें भी एक विशेष तथ्य है। 'गीता' का अर्थ है जो गाया गया। गान केवल स्वरलयात्मकता का ही द्योतक नहीं है, तन्मयता का सूचक भी है। एक ओर रण-भेरियों का गर्जन था, दूसरी ओर श्रीकृष्ण द्वारा एक प्रकार का संगान यह एक विचित्र संयोग की बात है। युद्ध-क्षेत्र, क्रोध, क्षोभ, असहिष्णुता आदि के उभार का सहज कारण है। उसमें चैतसिक स्थिरता सध पाना कम संभव है। इसलिए ये दो विपरीत बातें हैं। इन दो विपरीत स्थितियों की संगति बिठाना ही गीता के दर्शन का सार है। महाकवि कालिदास ने एक बड़े महत्त्व की बात कही है। कुमारसंभव का प्रसंग है। भगवान शंकर हिमाद्रि पर तपस्या में रत थे। देवताओं का अभियान था—उन्हें तप से विचलित किया जाय। तदर्थ काम-राग का उद्दीपन करने वाले, सभी मोहक उपक्रम रचे गये। पर शंकर अडिग रहे। उस प्रसंग पर महाकवि द्वारा उद्गीर्ण निम्नांकित शब्द बड़े महत्त्व के हैं—

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

विकार के अनेकानेक हेतु या साधन विद्यमान हों, फिर भी जो उनके कारण अपने पथ से विचलित न हों, वे ही धैर्यशाली हैं। कृष्ण को यही तो बताना था कि मानव किसी भी प्रतिकूल स्थिति में हो, यदि वह चाहे, प्रयत्न करे तो स्थिर रह सकता है। यहीं से गीता के दर्शन का प्रारम्भ होता है।

स्थितप्रज्ञ का गीताकार ने जो स्वरूप व्याख्यात किया है, वह अपने में संस्थित साधक के जीवन का जीवित चित्र है, जिसे जगत के झंझावात जरा भी हिला नहीं सकते, डिगा नहीं सकते।

जैनदर्शन में आत्म-विकास की विश्लेषण परम्परा में इस तथ्य को विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है कि साधक को रागात्मक, द्वेषात्मक परिस्थितियों से क्रमशः ऊँचे उठते-उठते उस मनःस्थिति को पा लेना होगा, जो न कभी विचलित होती है और न प्रकम्पित ही। इसके लिए एक बड़ा सुन्दर शब्द आया है—शैलेशीकरण। शैल का अर्थ पर्वत होता है, शैलेश का अर्थ पर्वतों का अधीश्वर या मेरु। इस उन्नत मनोदशा को स्थिरता और दृढ़ता की अपेक्षा से मेरु से उपमित किया गया है। इस स्थिति तक पहुँचने के बाद साधक कभी नीचे गिरता नहीं। इस तक पहुँचने का जो तात्त्विक क्रम जैनदर्शन में स्वीकृत है, वह अनेक दृष्टियों से स्थितप्रज्ञ की साधना से तुलनीय है।

उपनिषदों में आत्म-ज्ञान, परमात्म-साधना, मानसिक मल के अपगम, अपने सत्यात्मक, शिवात्मक व सौन्दर्यात्मक स्वरूप के साक्षात्कार के सन्दर्भ में जो विवेचन हुआ है, बाह्य शब्दावली में न जाकर यदि उसके अन्तस्तल में जाएं तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा कि वहाँ का विवेचन जैन तत्त्व चिन्तनधारा के साथ काफी अंश तक सामंजस्य लिये हुए है।

आसक्ति का परिणाम : विनाश

चरम ध्येय या अन्तिम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए साधना-पथ के पथिक को जो सबसे पहले करना होता है, वह है—मार्ग में आने वाले विघ्नों तथा उनके दुष्परिणामों का बोध, स्थितप्रज्ञ-दर्शन के निम्नांकित दो श्लोकों की गीताकार ने इस सन्दर्भ में जो व्याख्या की है, वह विशेष रूप से मननीय है—

"ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥"[२]

व्यक्ति और विषय—भोग्य पदार्थ—इन दो को सामने रखकर गीताकार अपने चिन्तन को अग्रसर करते हैं। जब-जब व्यक्ति की दृष्टि बाह्य सौन्दर्य, माधुर्य एवं सारस्य, जो भोग्य पदार्थों का आकर्षक रूप है, पर होती है; तब बार-बार वे ही याद रहते हैं। उसका ध्यान एकमात्र उनमें ही लग जाता है। उनके अतिरिक्त उसे कुछ भी नहीं सूझता। ऐसी मनःस्थिति हो जाने पर, गीताकार कहते हैं कि उसके मन में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति का

तात्पर्य वह भावनात्मक चिपकाव है, जिसके सट जाने पर व्यक्ति का उधर से हटना बहुत कठिन होता है। उसका परिणाम कामना के रूप में आता है। व्यक्ति चाहता है कि जिस भोग्य पदार्थ का वह ध्यान करता रहा है, जिसमें उसका मन तन्मय है, वह उसे प्राप्त हो। कामना का जगत् अपरिसीम है, वह व्यक्ति के आत्मसात् हो जाय, यह कैसे संभव है? कामना की अपूर्ति मन में क्रोध उत्पन्न करती है। क्रोध का मूल तमस् या तमोगुण है। तमस् अन्धकार का वाचक है। अन्धकार में जिस प्रकार कुछ दीख नहीं पड़ता, उसी प्रकार क्रोधावेश में यथार्थ का दर्शन या अवलम्बन असम्भव नहीं तो दुःसम्भव अवश्य हो जाता है। क्रोध में विवेक लुप्त हो जाता है। इसीलिए गीताकार ने क्रोध से संमूढता पैदा होने की बात कही है। मोह शब्द से पहले जो 'सम्' उपसर्ग लगा है, वह मोह या मूढता के व्यापक व सघन रूप का परिचायक है। अर्थात् तब मूढ़ता भी बहुत भारी कोटि की आती है, साधारण नहीं। मूढ़ता मानव के आन्तरिक अधःपतन का बहुत बड़ा हेतु है।

मानव में स्मृति नाम का एक विशेष आन्तरिक गुण है, जिसमें अतीत के विशिष्ट ज्ञान का संचय रहता है, अनुभूतियों का संकलन रहता है। जब कोई वाञ्छित, अवाञ्छित प्रसंग बनता है, तब जो आन्तर्मानसिक प्रतिक्रिया होती है, उसका उत्तर स्मृति से मिलता है। स्मृति सत् या असत् वैसे विचार या उदाहरण प्रस्तुत कर देती है, जो सन्मार्ग या दुर्मार्ग पर गतिशील होने में प्रेरक बनते हैं। अर्थात् स्मृति यदि सत् को आगे करती जाय तो व्यक्ति में सत्योन्मुखता का भाव जागता है, पनपता है। यदि वह असत् का रूप उपस्थित करती जाती है तो भावना और तत्पश्चात् कर्म का जगत् असत् की ओर अग्रसर होता है। संमूढता से स्मृति विनष्ट हो जाती है। आगे गीताकार का कहना है कि जब स्मृति नष्ट हो गई तो फिर बुद्धि कहाँ रही? बुद्धि का नाश तो एक प्रकार से सर्वनाश ही है।

गीताकार ने यह पतन के क्रम का जो वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, निःसन्देह अनेक दृष्टियों से गवेष्य है। इसके बाद गीताकार ने इससे बचने का जो मार्ग बताया है, वह इस प्रकार है—

"रागद्वेष वियुक्तैस्तु, विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति ॥"[3]

इस श्लोक में राग, द्वेष, विषय, इन्द्रिय और आत्मवश्य—इन शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। मन में विषयों के प्रति लिप्सा जागती है। उस लिप्सा की पूर्ति इन्द्रियां करती हैं। इन्द्रियों के साथ रागात्मकता या द्वेषात्मकता—जो भी भाव जुड़ा रहता है, उन (इन्द्रियों) की प्रवृत्ति तदनुरूप होती है। यह बन्धन या पारवश्य की दशा है। इसमें आत्मा का स्वरूप आच्छन्न रहता है। उस पर माया या अज्ञान का आवरण छा जाता है। इसका परिणाम अपने स्वरूप से अधःपतित होने में आता है। इसलिए गीताकार ने यहाँ बड़ी मार्मिक बात कही है। जब तक इन्द्रियां हैं, तब तक उनके द्वारा अपने-अपने विषय गृहीत होंगे ही। इन्द्रियों के होते विषय-शून्यता की दशा नहीं आ सकती। इसलिए गीताकार ने जिस करणीयता पर विशेष जोर दिया है, वह है राग और द्वेष से वियुक्तता। जब इन्द्रियों का रागात्मक व द्वेषात्मक भाव से यथार्थतः वियोग हो जायेगा, तब उनका विषय-ग्रहण वैसा बहिर्गामी नहीं रहेगा, जैसा राग-द्वेष संयुक्तता में था। सहज ही इन्द्रियां आत्मा के वशंगत हो जायेंगी, जो पहले राग या द्वेष के अधीन थीं। यथार्थ की भाषा में दुःख तो तब होता है, जब व्यक्ति निज स्वरूप से हटकर पर-रूप में चला जाता है। जब इन्द्रियों की आत्मवश्यता सध जाती है, तब गीताकार के शब्दों में व्यक्ति प्रसाद का लाभ करता है। प्रसाद का अर्थ प्रसन्नता, उल्लसित भाव या आनन्द है।

स्नेह-बन्धन का उच्छेद करें

गीता में कर्म-संसार के उत्तरोत्तर विस्तार पाते जाने के मूल में संग या आसक्ति का जो विशेष रूप से चित्रण किया गया है, वैसा ही भाव बहुत ही प्रेरक रूप में हमें उत्तराध्ययन सूत्र की निम्नांकित गाथा में प्राप्त होता है—

"वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्व सिणेहवज्जिए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥"[4]

इस गाथा में 'सिणेह' या स्नेह शब्द आसक्ति के अर्थ में आया है। स्नेह का अर्थ चिकनाई भी है। आसक्ति

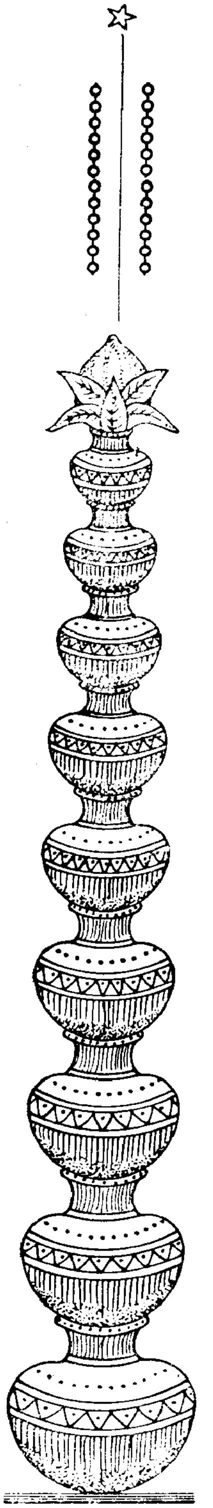

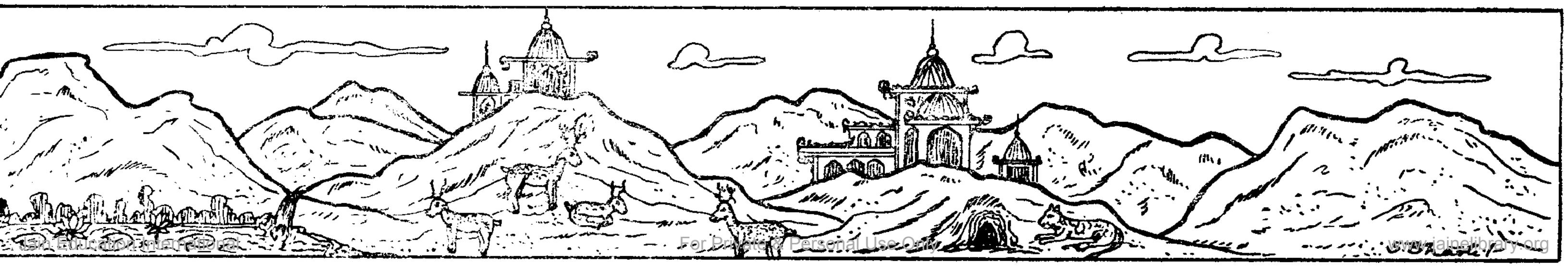

में भावना को वस्तु-विशेष या विषय-विशेष में अटका लेने का जो स्वभाव है, वह भी एक तरह की चिकनाई या चेप ही तो है। इसीलिए सूत्रकार ने साधक को सम्बोधित करते हुए कहा है कि तुम स्नेह का उच्छेद कर डालो। उच्छेद शब्द का भी अपने आप में एक विशेष महत्त्व है। उच्छेद (उत्+छेद) का अर्थ है बिल्कुल मिटा देना। सूत्रकार ने बड़ी सुन्दर कल्पना की है कि यदि स्नेह या आसक्ति का बन्धन टूट गया तो साधक वैसा ही निर्मल बन जायेगा, जैसा शरद् ऋतु के निर्मल जल में तैरता हुआ कमल, जो जल से सर्वथा अलिप्त रहता है। भारतीय संस्कृति में कमल निर्मलता और पवित्रता का प्रतीक है। आत्मा में वैसी निर्मलता आने का अर्थ है, उसका वासना-प्रसूत विजातीय भावों से मुक्त होना। गीताकार ने '**प्रसादमधिगच्छति**' इन शब्दों द्वारा जो बात कही है, यदि हम उसकी प्रस्तुत प्रसंग से तुलना करें अतोबड़ी अच्छी संगति प्रतीत होगी। इसी प्रकार का एक दूसरा प्रसंग है—

"कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसंगओ॥"[५]

यहां सूत्रकार ने श्रमण-धर्म, जो जीवन का निर्विकार, आत्म-समर्पित साधना-पथ है, के प्रतिपालन के सन्दर्भ में कहा है कि जो काम-राग का निवारण नहीं कर सकता, वह कदम-कदम पर विषाद पाता है। क्योंकि काम-रागी पुरुष में मनःस्थिरता नहीं आ पाती। वह अपने आपको संकल्प-विकल्प में खोये रखता है, उससे श्रामण्य—श्रमण-धर्म का पालन कैसे हो सकता है ? कहने का अभिप्राय यह है कि कामराग, गीताकार के अनुसार विषय-ध्यान, संग तथा काम के भाव का उद्बोधक है। गीताकार इस विकार-त्रयी से फलने वाले जिस विनाश की बात कहते हैं, दशवैकालिककार संक्षेप में उसी प्रकार का भाव काम-राग और संकल्प-विकल्प से निष्पन्न होना बतलाते हैं। संकल्प-विकल्प स्मृति-भ्रंश से ही उद्भूत होते हैं, जो बुद्धि के चाञ्चल्य के परिचायक हैं। बुद्धि-विनाश का यही अर्थ है कि उससे जो विवेक-गर्भित चिन्तनमूलक निष्कर्ष आना चाहिए, वह नहीं आता—विपरीत आता है, जिसका आश्रयण मानव को सद्यःविपथगामी बना देता है।

एक और प्रसंग है, साधक कहता है—

"रागद्दोसादओ तिव्वा, नेहपासा भयंकरा।
ते छिन्दित्तु जहानायं, विहरामि जहक्कमं॥"[६]

अर्थात् तीव्र राग-भाव, द्वेष-भाव तथा और भी जो स्नेहात्मक भयावह पाश हैं, मैं यथोचित रूप से उन्हें उच्छिन्न कर अपने स्वभाव में विहार करता हूँ।

यहाँ दो प्रकार के भाव हैं। एक पक्ष यह है कि तीव्र राग, तीव्र द्वेष, आसक्त भाव—ये बड़े भयजनक बन्धन हैं। अर्थात् इनसे मानव स्वार्थी, कुण्ठित तथा संकीर्ण बनता है। ये आत्म-विमुख भाव हैं। इसीलिए इन्हें बन्धन ही नहीं, भयानक बन्धन कहा है। यहाँ प्रयुक्त पाश शब्द बन्धन से कुछ विशेष अर्थ लिये हुए है। यह फन्दे या जाल का बोधक है, जिसमें फँस जाने या उलझ जाने पर प्राणी का निकलना बहुत ही कठिन होता है। दूसरा पक्ष यह है कि अपनी सुषुप्त आत्म-शक्ति को जगाकर मनुष्य यदि इन्हें वशंगत कर लेता है, जीत लेता है, दूसरे शब्दों में इन्हें विध्वस्त कर देता है तो असीम आनन्द पाता है। 'विहरामि जहक्कमं' और 'प्रसादमधिगच्छति' का कितना सुन्दर सादृश्य है, जरा चिन्तन करें।

साधक को विकार के पथ पर धकेलने वाली इन वासनात्मक अन्तर्वृत्तियों की विजय के लिए जैन आगम वाङ्मय में अनेक प्रकार से मार्ग-दर्शन दिया गया है, इनके प्रत्याख्यान या परित्याग की आवश्यकता पर बहुत बल दिया गया है। जैसे कहा है—

"कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो॥
उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चाज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे॥"[७]

जब किसी व्यक्ति के उदर में, जो शारीरिक स्वास्थ्य का केन्द्र है, विकार उत्पन्न हो जाता है तो यह आवश्यक

होता है कि उसका निष्कासन हो। आयुर्वेद में इस सम्बन्ध में पंच कर्मों के रूप में बड़ा वैज्ञानिक विवेचन है। पंच कर्मों में वमन का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वमन द्वारा अपरिपक्व, विकृत तथा विषाक्त पदार्थ जब पेट से निकल जाते हैं, तब सहज ही एक सुख का अनुभव होता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति के अनुसार प्राचीन काल में प्रचलन भी ऐसा ही था। पहले वमन, विरेचन, स्नेहन, स्वेदन, उद्वासन द्वारा दोषों का निष्कासन हो जाता, तब फिर स्वास्थ्यवर्द्धन, शक्तिवर्द्धन आदि के लिए औषधि दी जाती। वह विशेष प्रभावक सिद्ध होती। यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक तथा काव्य-शास्त्री अरस्तू ने काव्य-रसास्वादन के सन्दर्भ में भी इस पद्धति को स्वीकार किया है। अरस्तू के अनुसार रस-बोध के लिए अवसाद तथा कुण्ठाजनित विषण्ण भावों का विरेचन, जिसे कैथेरसिस या कैथेसिस कहा गया है, नितान्त आवश्यक है।

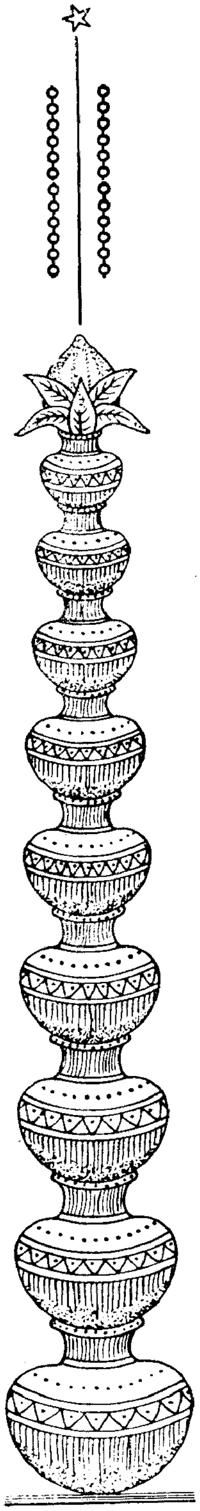

सूत्रकार ने यहाँ क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों को वमन की तरह निकाल फेंकने का निर्देश किया है। इनके साथ जुड़ा हुआ 'पाववड्ढणं' विशेषण इस बात का द्योतक है कि इनसे विकार की धारा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इन चारों के लिए दोष शब्द का भी प्रयोग हुआ है। दोष का व्यौत्पत्तिक अर्थ है—"दूषयतीति दोषः" अर्थात् जो दूषित—म्लान या गन्दा बना दे, वह दोष है। सूत्रकार का आशय यह है कि क्रोध, अहंकार, माया-प्रवंचना, लोभ—लिप्सा या लालसा का उग्र भाव अपने भीतर से उसी प्रकार निकाल दिया जाना चाहिए, जिस प्रकार वमन द्वारा विकृत पदार्थ निकाल दिए जाते हैं। गाथा का अन्तिम पद है—'इच्छन्तो हियमप्पणो' अर्थात् यदि अपना हित चाहते हो तो ऐसा करो। शाब्दिक अर्थ के साथ-साथ हम शब्दगत लयात्मकता की ओर जाएँ तो अनुभव होगा, इस पद में उद्बोधन तथा पुरुषार्थ जागरण का एक जीवित सन्देश है। अर्थात् इनको वमन की तरह फेंके बिना आत्मा का हित किसी भी तरह सध नहीं सकता।

अब हम जरा दूसरी गाथा की ओर आएँ। सूत्रकार ने इसमें उपर्युक्त विकारों को अपगत करने के लिए एक बहुत सुन्दर पथ-दर्शन दिया है, जो बड़ा मनोवैज्ञानिक है। जीवन में दो पक्ष हैं—विधि और निषेध। धर्मशास्त्रों में प्रायः निषेधमुखी व्याख्याएँ अधिक मिलती हैं। यहाँ कुछ सोचना होगा। निषेधमुखी व्याख्या का आधार 'पर' है क्योंकि निषेध या वर्जन पर का किया जाता है। विधिमुखी व्याख्या का आधार 'स्व' है। निश्चय की भाषा में तो विधिमुखी व्याख्या ही श्रेयस्कर है, निषेधमुखी औपचारिक। आत्मा जब अपने भाव, गुण या स्वरूप को स्वीकार करता है, तब 'पर-भाव', तथा 'पर-स्वरूप' का स्वतः निषेध सधता है। उदाहरणार्थ यदि हम घर में प्रवेश करते हैं तो सहज ही सड़क छूटती है। वहाँ यदि यह भाव बने कि हमने सड़क को छोड़ा तो वह यथार्थ नहीं होगी। गृह में प्रवेश किया, यह विधि-मुखता ही तात्त्विक होगी। इस ओर स्पष्ट रूप में समझें। यदि ज्ञान का प्रकाश आत्मसात् होगा तो अज्ञान स्वतः ही मिटेगा यह होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से निषेध पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। इसका कारण यह है कि सामान्यतः अधिक लोग सूक्ष्मदर्शी नहीं हैं, स्थूलदर्शी हैं। वे पर से अधिक प्रभावित हैं। उनका दृष्टिबिन्दु 'पर' पर अधिक टिका है। इसलिए 'पर' के वर्जन या निषेध द्वारा उन्हें दिशा-बोध देना आवश्यक होता है।

सूत्रकार ने प्रस्तुत गाथा में विधि और निषेध दोनों विधाओं को स्वीकार करते हुए इन वासनात्मक अन्तर्वृत्तियों से वियुक्त होने का पथ-दर्शन किया है। उन्होंने कहा है कि उपशम या शान्ति से क्रोध का हनन करो। 'हनन' शब्द वीर्य—पुरुषार्थ या वीरत्व को जगाने की दृष्टि से है। उपशम क्रोध का परिपन्थी (विरोधी) है और क्रोध शान्ति का। यदि उपशम या शान्त भाव का स्वीकार होगा तो क्रोध स्वयं ही अस्तित्व शून्य हो जायेगा। परन्तु शान्त भाव, जो आत्मा का स्व-भाव है, को जगाने के लिए अन्तःस्फूर्ति, पुरुषार्थ, अध्यवसाय अपेक्षित होता है। उपशम द्वारा क्रोध-विजय का सन्देश उद्घोषित कर मार्दव से मान को जीतने की बात कही गई है। मार्दव 'मृदु' विशेषण से बना (मृदोर्भावः—मार्दवम्) भाववाचक शब्द है। इसका अर्थ सहज मृदुता या कोमलता है। यह मान या अहंकार का विलोम (प्रतिपक्षी) है। मृदुता के आ जाने पर अहंकार स्वयं ही चला जाता है। इसलिए प्रयत्न अपने में मृदुता लाने का होना चाहिए।

आगे माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से जीतने की बात कही गई है। आर्जव ऋजु से (ऋजोर्भावः-आर्जवम्) से बना है। मार्दव जैसे मृदुगत भाव का द्योतक है, उसी तरह आर्जव ऋजुगत भाव का द्योतक है। इसका अर्थ सरलता है। सरलता सहज भाव है, जिसमें बनाव नहीं होता। माया प्रवञ्चना है ही। उसे छलना भी कहा जाता है क्योंकि वह व्यक्ति को छलती है, धोखा देती है, उसे विभ्रान्त करती है। उसमें जितना हो सकता है, बनाव ही बनाव

होता है। पर, यहाँ भी यह ज्ञातव्य है कि सहज सरल भाव के आते ही माया टिक नहीं पाती। इसलिए निश्चय की भाषा यहाँ भी यही बनती है कि सरलता को अपनाओ, माया स्वयं अपगत होगी। लोभ और संतोष के सन्दर्भ में यही वास्तविकता है।

शान्ति, मृदुता, ऋजुता तथा सन्तोष का जीवन में ज्योंही समावेश होगा, आत्मा में एक अभिनव चेतना तथा संस्फूर्ति का संचार होगा। सूत्रकार जिसे आत्म-हित सधना कहते हैं, वह यही तो है। ऐसा होने से ही आत्म-प्रसाद अधिगत होता है जिसकी गीता के सन्दर्भ में ऊपर चर्चा हुई है।

मन : कामनाएँ : संवरण

गीता में जहाँ स्थितप्रज्ञ का प्रकरण प्रारम्भ होता है, वहाँ अर्जुन द्वारा योगिराज कृष्ण से निम्नांकित शब्दों में प्रश्न किया गया था—

"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभावेत, किमासीत व्रजेत किम्॥"[८]

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! समाधिस्थ—समता भाव में अवस्थित स्थितप्रज्ञ की क्या परिभाषा है? वह कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है?

लगभग इसी प्रकार की जिज्ञासा दशवैकालिक में अन्तेवासी अपने गुरु से करता है—

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए।
कहं भुंजन्तो भासन्तो पावकम्मं न बन्धइ॥[९]

वह कहता है—मैं कैसे चलूँ, कैसे खड़ा होऊँ, कैसे बैठूं, कैसे सोऊँ, कैसे खाऊँ, कैसे बोलूँ, जिससे मैं निर्मल, उज्ज्वल रह सकूँ।

दोनों ओर के प्रश्नों की चिन्तन-धारा में कोई अन्तर नहीं है। ठीक ही है, मोक्षार्थी जिज्ञासु के मन में इसके अतिरिक्त और आयेगा ही क्या! जहाँ गीता के इस प्रश्न के समाधान में, जैसा ऊपर विवेचन हुआ है, स्थितप्रज्ञ का दर्शन विस्तार पाता है, उसी प्रकार जैन आचार-शास्त्र का विकास भावतः इसी जिज्ञासा का समाधान है।

स्थितप्रज्ञ : वीतराग : अन्तर्दर्शन

अर्जुन द्वारा किये गये प्रश्न पर श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ की जो परिभाषा या व्याख्या की वह निम्नांकित रूप में है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
यदा संहरते चायं, कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥[१०]

गीताकार कहते हैं कि दुःखों के आने पर जो उद्वेग नहीं पाता, सुखों के आने पर जिसकी स्पृहा या आकांक्षा उद्दीप्त नहीं होती, जिसे न राग, न भय और न क्रोध ने ही अपने वशंगत कर रखा है अर्थात् जो इन्हें मिटा चुका है, उसकी बुद्धि स्थित या अचञ्चल होती है, वह स्थितप्रज्ञ है—स्थिरचेता उच्च साधक है।

जिसके स्नेह—रागानुरञ्जित आसक्तता का संसार मिट गया है, जो शुभ या प्रेयस् का अभिनन्दन नहीं करता, अशुभ या अप्रेयस् से द्वेष नहीं करता, उसकी बुद्धि सम्यक् अवस्थित रहती है, वह स्थितप्रज्ञ है।

जिस प्रकार कछुआ अपने सब अंगों को सम्पूर्णतः अपने में समेट लेता है, उसी प्रकार जो अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है। उसकी प्रज्ञा अविचल होती है, सम्यक् प्रतिष्ठित होती है, वह स्थितप्रज्ञ है।

जब तक इन्द्रियाँ और उनका प्रेरक मन वैषयिक वृत्ति से सर्वथा परे नहीं हटता, तब तक वह दुःखों की सीमा को लांघ नहीं सकता। ज्योंही वैषयिक वृत्ति क्षीण हो जाती है, दुःख स्वयं ध्वस्त हो जाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में इस सन्दर्भ में बड़ा सुन्दर विवेचन है—

एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं-मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवंपि कयाइ दुक्खं न वीयरागस्स करेन्ति किंचि।।
सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।।
न कामभोगा समयं उवेन्ति, न यावि भोगा विगई उवेन्ति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ।।[११]

जो मनुष्य रागात्मकता से ग्रस्त हैं, इन्द्रियां और उनके विषय उसे दुःखी बनाते रहते हैं, किन्तु जिसकी राग भावना विनिर्गत हो गई है उसे ये जरा भी दुःख नहीं पहुँचा सकते।

जो पुरुष शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों से विरक्त होता है, वह शोक-संविग्न नहीं होता। वह संसार के मध्य रहता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, जैसे पुष्करिणी में रहते हुए भी पलाश जल से अलिप्त रहता है।

उत्तराध्ययनकार ने यहाँ एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है कि कामनाएँ और भोग न समता या उपशम के हेतु हैं और न वे विकार के ही कारण हैं। जो उनमें राग-भाव या द्वेष-भाव रखता है, वही विकार प्राप्त करता है। इसका आशय यह है कि विषय या भोग्य पदार्थ अपने आप में अपने सत्तात्मक स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। विकृति तो व्यक्ति की अपनी मनोभावना पर निर्भर है। मनोभावना में जहाँ पवित्रता है, वहाँ वैषयिक पदार्थ बलात् कुछ भी नहीं कर सकते। विकार या शुद्धि मूलतः चेतना का विषय है, जो केवल जीव में होती है।

स्थितप्रज्ञ की परिभाषा में ऊपर अनभिस्नेह शब्द का प्रयोग हुआ है। 'अभिस्नेह' स्नेह का कुछ अधिक सघन रूप है। यह अधिक सघनता ही उसे तीव्र राग में परिणत कर देती है। राग में तीव्रता आते ही द्वेष का उद्भव होगा ही। क्योंकि राग प्रेयस्कता के आधार पर एक सीमांकन कर देता है। उस अंकन सीमा से परे जो भी होता है, अनभीप्सित प्रतीत होता है। अनभीप्सा का उत्तरवर्ती विकास द्वेष है। यों राग और द्वेष ये एक ही तथ्य के मधुर और कटु—दो पक्ष हैं। इस जंजाल से ऊपर उठने पर साधक की जो स्थिति बनती है, उत्तराध्ययनकार के निम्नांकित शब्दों में उसका अन्तःस्पर्शी चित्रण है—

"निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ।।
लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ।।
गारवेसु कसाएसु, दण्डसल्लभएसु य।
निअत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबन्धणो।।
अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासीचन्दणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा।।"[१२]

जो ममता और अहंकार से ऊँचा उठ जाता है, अनासक्त हो जाता है, जंगम तथा स्थावर—सभी प्राणियों के प्रति उसमें समता का उदार भाव परिव्याप्त हो जाता है। वह लाभ या अलाभ, सुख या दुःख, जीवन या मृत्यु, निन्दा या प्रशंसा, मान या अपमान में एक समान रहता है। लाभ, सुख, जीवन, प्रशंसा एवं मान उसे आनन्द-विभोर नहीं कर सकते तथा अलाभ, दुःख, मृत्यु, निन्दा एवं अपमान उसे शोकान्वित नहीं करते। वह न ऐहिक सुखों की कामना करता है, न पारलौकिक सुखों की ही। चाहे उसे बसोले से काटा जाता हो या चन्दन से लेपा जाता हो, चाहे उसे भोजन मिलता हो, चाहे नहीं मिलता हो, उसके भीतर का समभाव मिटता नहीं, सदा सुस्थिर रहता है।

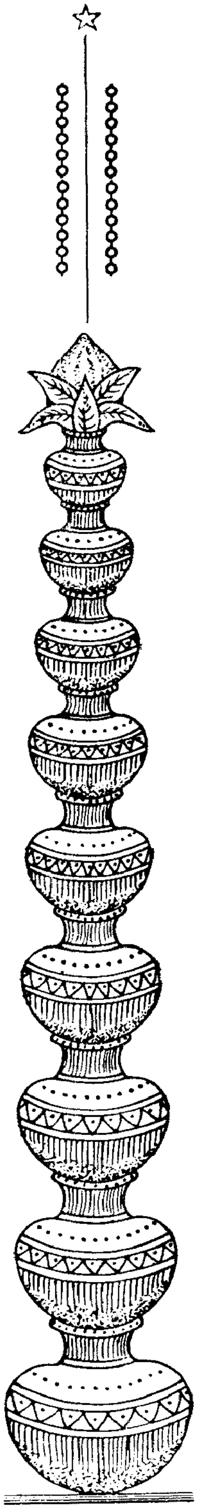

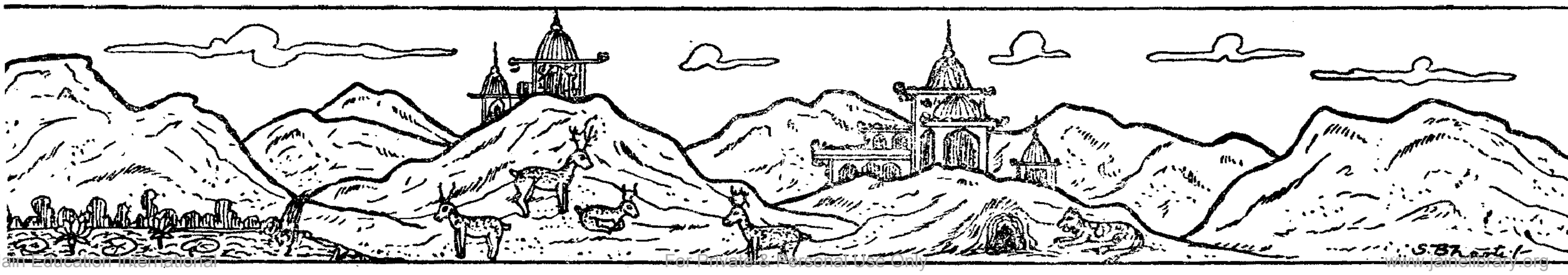

ऐसा होने पर उत्तराध्ययनकार के शब्दों में—

"सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, जं बाहई सययं जंतुमेयं ।
दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चंत सुहीकयत्थो।।"[१३]

वह (साधक), जो जीव को सतत पीड़ा देते रहते हैं, उन दीर्घ रोगों से विप्रमुक्त हो जाता है। दीर्घ रोग से यहाँ उन आन्तरिक कषायात्मक ग्रन्थियों का सूचन है, जो मानव को सदा अस्वस्थ (आत्म-भाव से बहिःस्थ) बनाये रखती हैं। जब ऐसा हो जाता है तो आत्मा अत्यन्त सुखमय हो जाती है। यह उसकी कृतकृत्यता की स्वर्णिम घड़ी है। तभी "दुःखेस्वनुद्विग्नमनाः" ऐसा जो गीता में कहा गया है, फलित होता है।

यों आत्म-उल्लास में प्रहर्षित साधक की भावना में अप्रतिम दिव्यता का कितना सुन्दर समावेश हो जाता है, उत्तराध्ययनकार के निम्नांकित शब्दों से सुप्रकट है—

"ते पासे सव्वसो छित्ता, निहंतूण उवायओ। मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी ।।
अन्तोहिअयसंभूया, लया चिट्ठइ गोयमा। फलेइ विसभक्खीणि, स उ उद्धरिया कहं ।।
तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं। विहरामि जहानायं, मुक्कोमि विसभक्खणं ।।
भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया। तमुच्छित्तु जहानायं विहरामि महामुणी ।।[१४]

साधक! जो (रागात्मक) पाश सांसारिक प्राणियों को बाँधे रहते हैं, मैं उनका छेदन और निहनन कर मुक्तपाश हो गया हूँ, हल्का हो गया हूँ, सानन्द विचरता हूँ।

भव-तृष्णा—सांसारिक वासना की विष-लता—हृदय में उद्भूत होने वाली विषय-वासना की शृंखला को मैं उच्छिन्न कर चुका हूँ। यही कारण है कि मैं सर्वथा आनन्दित एवं उल्लसित हूँ।

इसी सन्दर्भ में सूत्रकृतांग में बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"लद्धे कामे न पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए।
आयरियाइ सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ।।"[१५]

यदि काम-भोग सुलभ हों, आसानी से प्राप्त हों तो भी साधक को चाहिए कि वह उनकी वाञ्छा न करे। विवेक का ऐसा ही तकाजा है। इस प्रकार की निर्मल अन्तर्वृत्ति को संदीप्त करने के लिए साधक को चाहिए कि वह प्रबुद्ध जनों के सान्निध्य में रहकर ऐसी शिक्षा प्राप्त करे।

इस प्रसंग में औपनिषदिक साहित्य के कुछ सन्दर्भ यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं, जो उपर्युक्त विवेचन से तुलनीय हैं। प्रश्नोपनिषद् में ब्रह्मलोक अर्थात् आत्म-साम्राज्य की अवाप्ति के प्रसंग में कहा है—

"तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति।"[१६]

अर्थात् जिनमें कुटिलता नहीं है, अनृत आचरण नहीं है, माया या प्रवञ्चना नहीं है, आत्मा का परम विशुद्ध, विराट् साम्राज्य उन्हीं को प्राप्त होता है।

जब तक ऐसी स्थिति नहीं होती, तब तक उपनिषद् की भाषा में मनुष्य अविद्या में वर्तमान रहता है और उसका दुष्परिणाम भोगता रहता है।[१७]

अविद्या से उन्मुक्त होकर साधक किस प्रकार अमृतत्व पाता है, ब्रह्मानन्द का लाभ करता है, कठोपनिषद् में जो कहा है, मननीय है—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।।

जो कामना प्रसूत लुब्ध मनोवृत्तियाँ हृदय में आश्रित हैं, जब वे छूट जाती हैं तो मर्त्य—मरणधर्मा मानव अमृत—मरण से अतीत—परमात्म-भाव में अधिष्ठित हो जाता है। वह ब्रह्मानन्द या परमात्म-भाव की अनुभूति की वरेण्य वेला है।

अब हम उस प्रश्न पर आते हैं, जिसकी पहले 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा'···श्लोक सन्दर्भ में चर्चा की है,

जिसमें साधक, अपने समग्र क्रियाकलाप में परिष्कार कैसे आए, निर्बन्धावस्था कैसे रहे, की जिज्ञासा करता है। वहाँ सूत्रकार थोड़े से शब्दों में बड़ा सुन्दर समाधान देते हैं—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ।।"[१८]

साधक यत्न—जागरूकता या विवेकपूर्वक चले, खड़ा हो, बैठे, सोए, बोले तथा खाए। इस प्रकार यत्न या जागरूक भाव से इन क्रियाओं को करता हुआ वह पाप-कर्म से बँधता नहीं।

इस सन्दर्भ में आचारांगसूत्र का एक प्रसंग है, जिसे प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण के हेतु उपस्थित करना उपयोगी होगा—

"ण सक्का ण सोउं सद्दा, सोतविसयमागया।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ।।
ण सक्का रुवमद्दट्ठुं, चक्खुविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ।।
ण सक्का गंधमग्घाउं, णासाविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ।।
ण सक्का रसमस्साउं, जीहाविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ।।
ण सक्का फासमवेएउं, फासं विसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ।।"[१९]

जब तक श्रोत्रेन्द्रिय है, चक्षु इन्द्रिय है, घ्राणेन्द्रिय है, रसनेन्द्रिय है, स्पर्शनेन्द्रिय है, शब्द, रूप, गन्ध, रस व स्पर्श का ग्रहण न किया जाए, यह सम्भव नहीं है। पर इन सबके साथ रागात्मक या द्वेषात्मक भाव नहीं जुड़ना चाहिए। यह स्थिति तब बनती है, जब श्रवण, दर्शन, आघ्राण-रसन तथा स्पर्शन मन पर छाते नहीं, मन इनमें जब न रस ही लेता है और न उलझता ही है। गीताकार ने कच्छप के इन्द्रिय-संकोच के उपमान से इन्द्रियों को तत्सम्बद्ध विषयों से विनिवृत्त करने की जो बात कही है, वह प्रस्तुत विवेचन से तुलनीय है। इन्द्रियों की इन्द्रियार्थ से विनिवृत्ति का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में संचरणशील रहते हुए तन्मय नहीं होतीं, उनमें रमती नहीं। यही अनासक्तता या निर्लेप की अवस्था है।

उत्तराध्ययन सूत्र में एक दृष्टान्त से इसे बड़े सुन्दर रूप में समझाया है—

"उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई ।।
एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए ।।[२०]

मिट्टी के दो गोले हैं—एक सूखा, दूसरा गीला। दोनों यदि दीवाल पर फेंके जाएँ तो गीला गोला दीवाल पर चिपक जायेगा और सूखा गोला नहीं चिपकेगा। इसी प्रकार जो कलुषित बुद्धि के व्यक्ति कामनाओं व एषणाओं में फँसे हैं, गीले गोले की तरह उन्हीं के बन्ध होता है। जो विरक्त हैं—काम-लालसा से अनाकृष्ट हैं, उन्मुक्त हैं, वे सूखे गोले की तरह नहीं चिपकते, नहीं बँधते।

आचार्य पूज्यपाद ने बड़े उद्‌बोधक शब्दों में कहा है—

"रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्त्ववित् नेतरो जनः ।।"

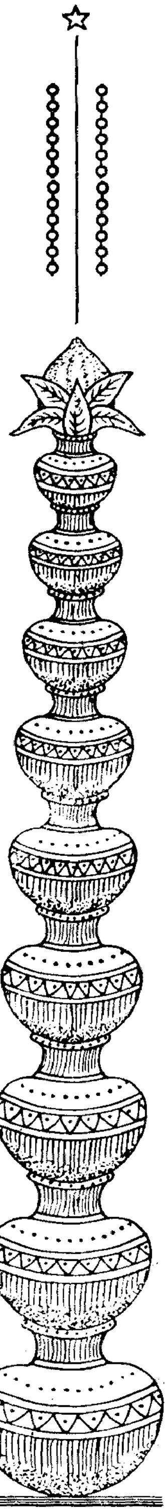

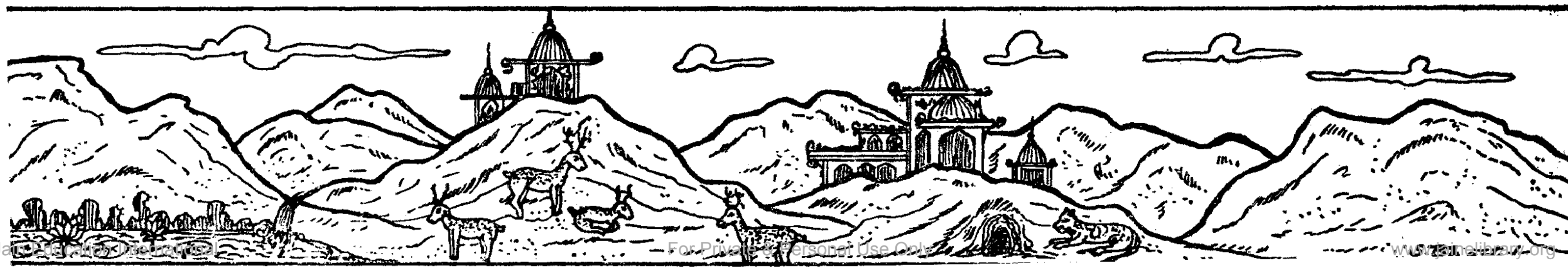

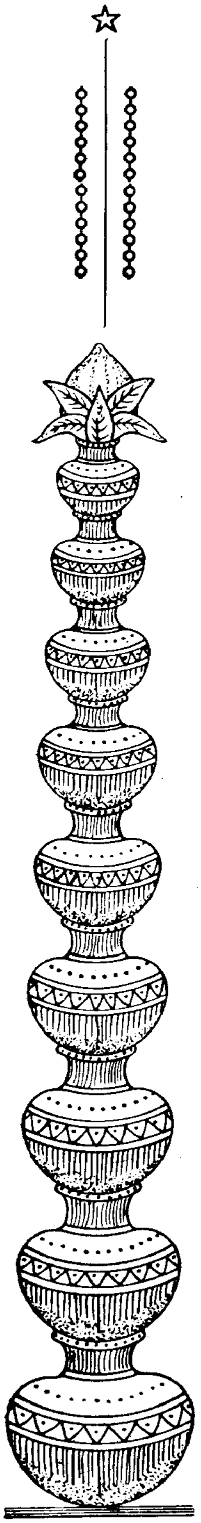

राग, द्वेष आदि की तरंगों से जिसका मन-रूपी जल चञ्चल नहीं होता, वही तत्त्ववेत्ता—वस्तु-स्वरूप को यथावत् रूप में जानने वाला आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार करता है, दूसरा नहीं।

मुण्डकोपनिषद् में एक बहुत सुन्दर रूपक है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया,
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽ-
नीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥"[२१]

दो पक्षी थे। एक साथ रहते थे। दोनों मित्र थे। एक ही वृक्ष पर बैठे थे। उनमें से एक उस पेड़ का स्वादिष्ट फल खा रहा था। पर आश्चर्य है कि दूसरा (पक्षी) कुछ भी नहीं खा रहा था, केवल आनन्दपूर्वक देख रहा था। अर्थात् कुछ भी न खाते हुए भी वह परम आह्लादित था। यहाँ ये दोनों पक्षी जीवात्मा और परमात्मा के प्रतीक हैं पहला जीवात्मा का और दूसरा परमात्मा का। यहाँ इस पद्य का आशय यह है कि जीवात्मा शरीर की आसक्ति में डूबा हुआ कर्मों के फल का उपभोग कर रहा है, अविद्या के कारण उसमें सुख, जिसे सुखाभास कहना चाहिए, मान रहा है। परमात्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है। कर्मों के फल-भोग से उसका कोई नाता नहीं।

इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि जीवात्मा शरीर की आसक्ति में डूबा रहने से दैन्य का अनुभव करता है जब वह परमात्मा को देखता है, परमात्म-भाव की अनुभूति में संविष्ट होता है, तब उसको उनकी महिमा का भान होता है और वह शोक-रहित बन जाता है।

इन पद्यों में उपनिषद् के ऋषि ने आसक्ति और अनासक्ति का अपनी भाषा में अपनी शैली में निरूपण किया है। जीवात्मा और परमात्मा व्यक्तिशः दो नहीं हैं। जब तक वह अविद्या के आवरण से आवृत है, उसकी संज्ञा जीवात्मा है। ज्योंही वह आवरण हट जाता है, शुद्ध स्वरूप, जो अब तक अवगुण्ठित था, उन्मुक्त हो जाता है। तब उसकी संज्ञा परमात्मा हो जाती है।

यहाँ बहुत उत्सुकता से फल को चखने, खाने और उसमें आनन्द मानने की जो बात ऋषि कहता है, उसका अभिप्राय सांसारिक भोग्य पदार्थों में आसक्त हो जाना या उनमें रम जाना है। चिन्तन की गहराई में डुबकी लगाने पर अज्ञान से दुःख में सुख मानने की भ्रान्ति अपगत होने लगती है, परमात्मता अनुभूत होने लगती है। पर पदार्थ निरपेक्ष परमात्म-भाव की गरिमा उसे अभिभूत कर लेती है। परमात्म-भाव की उज्ज्वलता, दिव्यता, सतत सुखमयता, चिन्मयता जीवात्मा में एक सजग प्रेरणा उत्पन्न करती है। अविद्या का पर्दा हटने लगता है, शोक मिटने लगता है, जीवात्मा की यात्रा परमात्म-भाव की ओर और तीव्र होने लगती है।

इन्द्रियों की दुर्जेयता : आत्म-शक्ति की अवतारणा

आसक्ति-वर्जन, इन्द्रिय-संयम आदि के सन्दर्भ में ऊपर विस्तार से चर्चा की गई है। पर, जीवन में वैसा सध पाना कोई सरल कार्य नहीं है। यही कारण है, गीताकार ने कहा है—

"यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसभं मनः ॥
इन्द्रियाणां हि चरतां, यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां, वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्थ, न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥[२२]

अर्जुन ! इन्द्रियों को जीत पाना वास्तव में बड़ा कठिन है। इन्द्रियाँ प्रमथनशील हैं—इतनी वेगशील हैं कि मानव के विचारों को मथ डालती हैं, विचलित कर देती हैं। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, वे ज्ञानी का भी मन हर लेती हैं।

मन स्वच्छन्दतापूर्वक विचरने वाली इन्द्रियों का अनुगमन करने लगे तो और अधिक संकट है। जिस प्रकार वायु जल में बहती (तैरती) नौका को डुबा देता है, उसी प्रकार वह इन्द्रियानुगत मन प्रज्ञा का हरण कर लेता है।

ऐसी स्थिति में जो, गीताकार के अनुसार अयुक्त—योगविरहित, अजागरूक या अनवस्थित दशा है, बुद्धि और भावना का अपगम हो जाता है। तब फिर कहाँ शान्ति और कहाँ सुख ?

इन्द्रियाँ और मन को वशंगत करने के लिए आत्म-शक्ति को जगाना होता है। आत्मा अपरिसीम, विराट शक्ति का संस्थान है पर जब तक शक्ति सुषुप्त रहती है, तब तक उससे कुछ निष्पन्न नहीं होता।

मुण्डकोपनिषद् का ऋषि बड़े प्रेरक शब्दों में कहता है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो, न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥

आत्मा को—आत्मा के शुद्ध एवं निर्मल भाव को बलहीन पुरुष नहीं पा सकता, प्रमादी नहीं पा सकता, अयथावत् तप करने वाला भी नहीं पा सकता। जो ज्ञानी यथावत् रूप में ज्ञानपूर्वक तप करता है, उसकी आत्मा ब्रह्म-सारूप्य पा लेती है।

शक्ति-जागरण के सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द ने लन्दन में अपने एक भाषण में कहा था—

"अपने में वह साहस लाओ, जो सत्य को जान सके, जो जीवन में निहित सत्य को दिखा सके, जो मृत्यु से न डरे, प्रत्युत उसका स्वागत करे, जो मनुष्य को यह ज्ञान करा दे कि वह आत्मा है और सारे जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो उसका विनाश कर सके। तब तुम मुक्त हो जाओगे। तब तुम अपनी प्रकृत आत्मा को जान लोगे।…………………तुम आत्मा हो, शुद्ध स्वरूप, अनन्त और पूर्ण हो। जगत् की महाशक्ति तुम्हारे भीतर है। हे सखे ! तुम क्यों रोते हो ? जन्म-मरण तुम्हारा भी नहीं है और मेरा भी नहीं है। क्यों रोते हो ? तुम्हें रोग-शोक कुछ भी नहीं है।[२३]

उत्तराध्ययन सूत्र का प्रसंग है, जहाँ साधक का आत्म-बल जगाते हुए प्रमाद से ऊपर उठने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है—

अबले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम मा पमायए ॥

जैसे निर्बल भारवाहक विषम—ऊबड़-खाबड़ मार्ग में पड़कर फिर पछताता है, तुम्हारे साथ कहीं वैसा न हो। सबल भारवाहक के लिए वैसा नहीं होता। क्योंकि अपने बल या शक्ति से सारी विषमताओं को वह पार कर सकता है। पर, दुर्बल वैसा नहीं कर सकता। दुर्बलता—आत्म-दौर्बल्य निश्चय ही एक अभिशाप है। उसके कारण मानव अनेकानेक विषमताओं में ग्रस्त होता जाता है, जीवन का प्रकाश धूमिल हो जाता है। इसीलिए सूत्रकार ने इस गाथा के अन्तिम पद में कहा है कि साधक ! तू क्षणभर भी प्रमाद न कर।

साधक में आत्म-बल जागे, अपने अन्तरतम में सन्निहित शक्ति-पुञ्ज से वह अनुप्राणित हो, इस अभिप्रेत से जैन आगमों में अनेक स्थानों पर बड़ा महत्त्वपूर्ण उद्‌बोधन है।

उत्तराध्ययन सूत्र में साधक को सम्बोधित कर कहा गया है—

"जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥

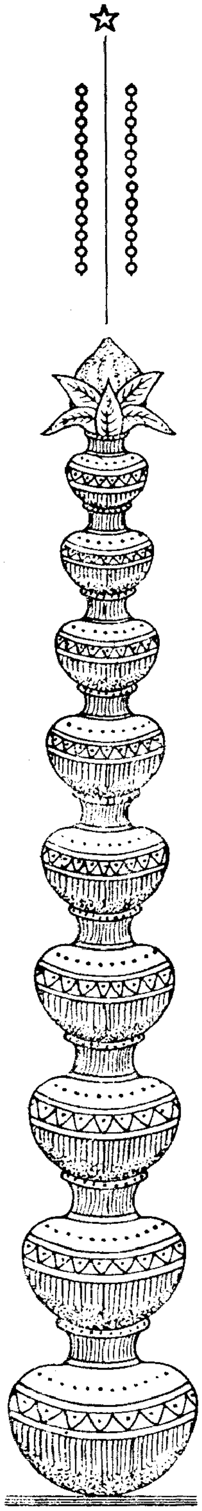

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥[२४]
अप्पाचेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥"[२५]

दुर्जेय संग्राम में सहस्रों योद्धाओं को जीत लेना संभव है पर, उससे भी बड़ी बात यह है कि साधक अपनी आत्मा को जीते। यह जय परम जय है। सहस्रों व्यक्तियों को शस्त्र-बल से जीतने वाले अनेक लोग मिल सकते हैं पर आत्म-विजेता आत्मबल के धनी कोई विरले ही होते हैं।

साधक ! तुम अपने आपसे जूझो, बाहर से जूझने पर क्या बनेगा। आत्मा द्वारा आत्मा को जीत लोगे तो वास्तव में सुखी बन पाओगे।

तुम आत्मा का—अपने आपका दमन करो। अपने आपका दमन करना ही कठिन है। जो आत्म-दमन साध लेता है, वह इस लोक में और पर-लोक में सुखी होता है।

आचारांग सूत्र में भी इसी प्रकार के शब्दों में साधक को प्रेरित किया गया है—

"इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
जुद्धारिह खलु दुल्लभं।"[२६]

अर्थात् मुमुक्षो ! इसी आत्मा से तुम युद्ध करो, बाहरी युद्ध से तुम्हारा क्या सधेगा। यह आत्मा ही युद्ध योग्य है। क्योंकि इसे वशंगत करना बहुत कठिन है।

सूत्रकृतांग सूत्र में यह सन्देश निम्नांकित शब्दों में मुखरित हुआ है—

"संबुज्झह किं न बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमन्ति राइयो, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥"[२७]

साधक ! तुम जरा समझो, क्यों नहीं समझ रहे हो ! यदि यह मनुष्य जीवन गंवा दिया तो फिर सम्बोधि-सद्बोध—सम्यक्ज्ञान प्राप्त करना ही कठिन होगा। स्मरण रखो, जो रातें बीत जाती हैं, वे लौटकर नहीं आतीं। यह मानव-भव बार-बार नहीं मिलता।

अपनी शक्ति को जगाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति सबसे पहले यह अनुभव करे कि वह वस्तुतः दुर्बल नहीं है। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, मानव में असीम शक्तियों का निधान भरा है। गल्ती यही है कि वह उन्हें भूले रहता है। शक्ति-बोध के साथ-साथ करणीयता-बोध भी आवश्यक है। ऊपर उद्धृत गाथाओं में आत्म-जागरण के इन दोनों पक्षों को जैन-तत्त्वदर्शियों ने जिस सशक्त व ओजपूर्ण शब्दावली में उपस्थित किया है, वह निःसन्देह मानव के भावों में उत्साह और स्फूर्ति का संचार करते हैं।

आनन्द की स्वर्णिम बेला

कामना, लालसा, लिप्सा और आसक्ति के परिवर्जन से जीवन में सहज भाव का उद्भव होता है। तब साधक जिस पर-पदार्थ-निरपेक्ष, आत्म-प्रसूत असीम सुख का अनुभव करता है, न उसके लिए कोई उपमान है और न शब्द-व्याख्येयता की सीमा में ही वह आता है। तब साधक इतना आत्माभिरत हो जाता है कि जगत् के विभ्रामक जीवन से स्वयं उसमें पराङ्मुखता आ जाती है। तभी तो गीताकार ने कहा है—

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥[२८]

सब प्राणियों के लिए जो रात है, संयमानुरत साधक उसमें जागता है। अर्थात् जिस आत्म-संस्मृति, स्वभाव-रमण रूप कार्य में संसार सुषुप्त है—अक्रियाशील है, अप्रबुद्ध है, साधक उसमें सतत उद्बुद्ध एवं चरणशील-गतिशील है। जिस अनाध्यात्मिक एषणा व आसक्तिमय कार्यकलाप में सारा जगत जागृत है, वहाँ वह सुषुप्त है।

जब साधक कामनाओं को पी जाता है, अपने में लीन कर लेता है तो पर्वत की तरह स्थिर-अडिग हो जाता है, समुद्र की तरह गम्भीर और विराट् हो जाता है। गीता में उसका बड़ा सुन्दर शब्द चित्र है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं, समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा य प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।[२९]

नदियाँ बहती-बहती समुद्र में पहुँचती जाती हैं, उसकी विराट्ता में विलीन होती जाती हैं। फिर उनका कोई अस्तित्व रह नहीं जाता उसी तरह जिस साधक की कामनाओं की सरिताएँ विलीन हो जाती हैं उसके लिए शान्ति, का निर्मल निर्झर प्रस्फुटित हो जाता है।

ऐसी दशा, जहाँ जीवन में शान्त भाव परिव्याप्त होता है, एक निराली ही स्थिति होती है। अध्यात्मयोगी श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है—

देह छतां जेहनी दशा, बरते देहातीत।
ते ज्ञानीनां चरणमां, हो वंदन अगणीत ।।

श्रीमद् राजचन्द्र के कथन का आशय यह है कि देह विद्यमान रहता है, रहेगा ही—जब तक संयोग है। ज्ञानी देह में देहभाव मानता है, आत्म-भाव नहीं। इसलिए उसे देहातीत कहा जाता है। वैसा ज्ञानी सबके लिए वंद्य और नमस्य है। पहले अनेक प्रसंगों में यह चर्चित हुआ है कि पदार्थ का अस्तित्व एक बात है और राग भाव से ग्रहण, दूसरी बात। राग भाव से जब पदार्थ गृहीत होता है, तब गृहीता पर पदार्थ-भाव हावी हो जाता है, उसका अपना स्व-भाव विस्मृत या विलुप्त हो जाता है। थोड़े से शब्दों में श्रीमद् राजचन्द्र ने बड़े मर्म की बात कही है।

गीताकार ने ऐसी दशा को ब्राह्मी दशा के नाम से व्याख्यात किया है। वहाँ लिखा है—

"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।"[३०]

स्थितप्रज्ञ दर्शन का यह अन्तिम श्लोक है। प्रज्ञा की स्थिरता के सम्बन्ध में सब कुछ कह चुकने के अनन्तर योगिराज कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन ! मैंने प्रज्ञा के स्थिरीकरण, अनासक्तीकरण, स्वायत्तीकरण के सम्बन्ध में जो व्याख्यात किया है, उसकी परिणति ब्राह्मी स्थिति में होती है। ब्रह्म शब्द परमात्मा या विराट्ता का वाचक है। अनासक्तता आने से वैयक्तिक संकीर्णता टिक नहीं पाती वहाँ व्यष्टि और समष्टि में तादात्म्य हो जाता है। वेदान्त की भाषा में जीवात्मा मायिक आवरणों को ज्ञान द्वारा अपगत कर ब्रह्म की विराट् सत्ता में इस प्रकार एकीभूत हो जाता है कि फिर भिन्नता या भेद जैसी स्थिति रहती ही नहीं। जैन-दर्शन इस राग-वर्जित, आसक्ति शून्य दशा का आत्मा के परम शुद्ध स्वरूप के अनावृत या उद्घाटित होने के रूप में आख्यान करता है। दूसरे शब्दों में इसे यों समझा जा सकता है कि आत्मा की ज्ञान, दर्शन, चारित्रात्मक विराट्ता, जो कर्मों के आवरण से ढकी रहती है, राग का अपगमन हो जाने से अनावृत हो जाती है। वहाँ न विकार रहता है और न कोई दोष। ऐहिक सुख-दुःखात्मकता वैकारिक है। इस दशा में पहुँची हुई आत्मा वैकारिकता से सर्वथा ऊँची उठ जाती है। यह स्थिति गीता की ब्राह्मी स्थिति से तुलनीय है। गीताकार कहते हैं कि ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाय तो फिर साधक विमोह में नहीं जाता। क्योंकि विमूढ़ता के हेतुभूत संस्कार वहाँ विद्यमान नहीं रहते।

स्वरूपावबोध के बाद लौकिकता का परिवेश स्वयं उच्छिन्न हो जाता है। केवल अपने शुद्ध स्वरूप की अनुभूति रहती है। आचार्य शंकर के शब्दों में वह इस प्रकार है—

न मृत्युर्न शंका न मे जातिभेदः,
पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।

जब अपने आपका बोध हो जाता है, तब जन्म व मृत्यु जिनका सम्बन्ध केवल देह से है, माता-पिता, भाई,

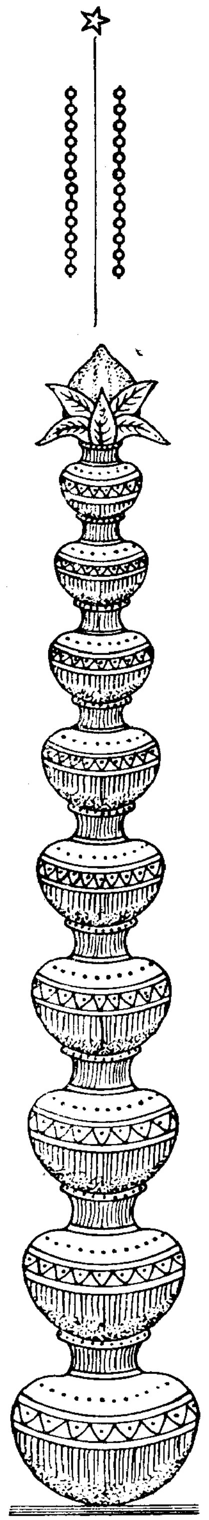

मित्र, गुरु, शिष्य आदि जिनके सम्बन्ध बाह्य एवं औपचारिक हैं, स्वयं विस्मृत हो जाते हैं। भय और शंका का फिर स्थान ही कहाँ ? आत्मा का चिदानन्दात्मक, शिवात्मक रूप ही समक्ष रहता है, चिन्तन में, अनुभूति में, परिणति में।

उत्तराध्ययन सूत्र में ऐसे वीतराग-स्वरूपगत साधक को कृतकृत्य कहा है—

स वीयरागो कयसव्वकिच्चो खवेइ नाणावरणं खणेणं ।
तहेव जं दंसणमादरेइ जं चंतरायं पकरेइ कम्म ॥

वह वीतराग सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है—जो करने योग्य है, वह सब कर चुका, जो साधने योग्य है, वह साध चुका। शुद्ध आत्मा के लिए जागतिक दृष्ट्या कुछ करणीय रहता ही नहीं। अपने अव्याबाध-आनन्दात्मक स्वरूप में परिणति, चिन्मयानुभूति ही उसका करणीय होता है, जो किया नहीं जाता, सहजतया होता रहता है। यह सहजावृत्ति ही साधना की पराकाष्ठा है।

सूत्रकार जैनदर्शन की भाषा में आगे इसका विस्तार इस प्रकार करते हैं—यों वीतराग-भाव को प्राप्त साधक अपने ज्ञानावरणीय (ज्ञान को आवृत करने वाले) कर्म का क्षणभर में क्षय कर देता है। दर्शन को आवृत करने वाले दर्शनावरणीय कर्म को भी वह क्षीण कर डालता है, आत्म-सुख के परिपन्थी अन्तराय कर्म को भी मिटा देता है।

उत्तराध्ययनकार एक दूसरे प्रकार से इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"विरज्जमाणस्स य इंदियत्था,
सद्दाइया तावइयप्पगारा ।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा,
निव्वत्तयमेती अमणुन्नयं वा ॥"[३२]

जब राग का अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् वीतरागता प्राप्त हो जाती है, तब शब्द आदि विषय उस (वीतरागदशा प्राप्त साधक) को मनोज्ञ—सुन्दर, अमनोज्ञ—असुन्दर नहीं लगते।

इस प्रकार राग-जनित, एषणा-प्रसूत मनःस्थिति से ऊपर उठते जाते साधक में परमात्म-भाव की अनुभूति होने लगती है तो उसका आत्म-परिणमन एक नया ही मोड़ लेने लगता है। आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश में कहा है—

"यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥"

अर्थात् जो परमात्मा है, वही मैं हूँ। जो मैं हूँ, वही परमात्मा है। मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, दूसरा कोई नहीं। आचार्य पूज्यपाद की शब्दावली में वीतराग और स्थितप्रज्ञ—दोनों के प्रकर्ष का सुन्दर समन्वय स्वयं सध गया है। स्थितप्रज्ञ की भूमिका जहाँ से प्रारम्भ होती है, वीतराग-पथ पर आरूढ़ साधक लगभग वहीं से अपनी मंजिल की ओर बढ़ना शुरू करता है। मंजिल तक पहुँचने के पूर्व जो वैचारिक उद्वेलन, परिष्करण, सम्मार्जन की स्थितियाँ हैं, उनमें भी शब्द-भेद, शैली-भेद तथा निरूपण-भेद के अतिरिक्त तत्त्व-भेद की स्थिति लगभग नहीं आती।

खूब गहराई तथा सूक्ष्मता में जाने पर ऐसा प्रतिभाषित होता है कि आत्मजनीन या परमात्मजनीन चिन्तन की स्रोतस्विनियाँ यहाँ जो बहीं, उनमें भीतर ही भीतर परस्पर सदृश वैचारिक स्फुरणा है, जो भिन्नता में अभिन्नता तथा अनेकता में एकता की अवतारणा करती है। आज यह वांछनीय है कि विभिन्न परम्पराओं के शास्त्रों का इसी दृष्टि से गम्भीर, तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। विशेषतः जैन विचारधारा तथा औपनिषदिक विचार-प्रवाह गीता जिसका नवनीत है, इस अपेक्षा से विशेषरूप से अध्येतव्य हैं।

---

१ सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत् ॥
—गीतामाहात्म्य ६

२ गीता अध्याय २, श्लोक ६२, ६३।

३ गीता अध्याय २, श्लोक ६४।

४ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १०, गाथा २८।

५ दशवैकालिक सूत्र अध्ययन २, गाथा १ ।

६ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २३, गाथा ४३ ।

७ दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ८, गाथा ३७, ३९ ।

८ गीता अध्याय २, श्लोक ५४ ।

९ दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ४, गाथा ७ ।

१० गीता अध्याय २, श्लोक ५५-५७ ।

११ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा १००, ४७, १०१ ।

१२ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १९, गाथा ८९-९२ ।

१३ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा ११० ।

१४ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २३, गाथा ४१, ४५, ४६, ४८ ।

१५ सूत्रकृतांग सूत्र श्रुत स्कन्ध १, अध्ययन ९ गाथा ३२ ।

१६ प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १, पाठ १६ ।

१७ अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः ॥

—कठोपनिषद् अध्याय १, वल्ली २, श्लोक ५ ।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा
अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः ॥

—मुण्डकोपनिषद् मुण्डक १, खण्ड २, श्लोक ८ ।

१८ कठोपनिषद् अध्याय २, वल्ली ३ श्लोक १४ ।

१९ आचारांगसूत्र अध्ययन २३, गाथा १–५ ।

२० उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २५, गाथा ४२, ४३ ।

२१ (क) मुण्डकोपनिषद् मुण्डक ३, खण्ड १, श्लोक १, २ ।
(ख) श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय ४, श्लोक ६, ७ ।

२२ गीता अध्याय २, श्लोक ६०, ६७, ६६ ।

२३ ज्ञानयोग पृष्ठ ६७ ।

२४ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ९, गाथा ३४, ३५ ।

२५ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १, गाथा १५ ।

२६ आचारांग सूत्र अध्ययन ५ उद्देशक ३ गाथा १५३ ।

२७ सूत्रकृतांग सूत्र श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन २, उद्देशक १, गाथा १ ।

२८ गीता अध्याय २, श्लोक ६९ ।

२९ गीता अध्याय २, श्लोक ७० ।

३० गीता अध्याय २, श्लोक ७२ ।

३१ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा १०८ ।

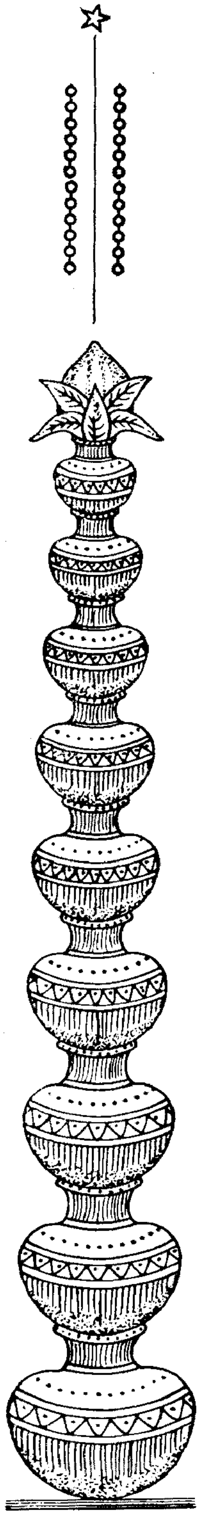३२ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा १०६ ।